

Chapter आठ

पिंगला की कथा

भगवान् कृष्ण ने उद्धव को यह बतलाया कि उस अवधूत ब्राह्मण ने किस तरह महाराज यदु को उन उपदेशों को समझाया, जिन्हें उसने अजगर इत्यादि नौ गुरुओं से प्राप्त किया था।

अजगर से प्राप्त उपदेश यह हैं कि बुद्धिमान व्यक्ति को विरक्ति की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए और जो कुछ अपने आप या आसानी से मिल जाय, उसी को स्वीकार करके अपने शरीर का पालन-पोषण करना चाहिए। इस तरह उसे सदैव भगवान् की पूजा में व्यस्त रहना चाहिए। यदि भोजन न भी मिले तो भी भगवान् की पूजा में व्यस्त रहने के इच्छुक व्यक्ति को भीख नहीं माँगनी चाहिए, प्रत्युत उसे यह सोचकर कि “मुझे जो भी आनन्द मिलना है, वह स्वतः आयेगा और मुझे शेष जीवन व्यर्थ ही इन वस्तुओं की चिन्ता में नहीं बिताना है।” इसको विधि का विधान समझना चाहिए। यदि उसे भोजन नहीं मिलता, तो वह अजगर की तरह लेटा रहकर अपने मन को भगवान् के ध्यान में स्थिर करे।

उस अवधूत ब्राह्मण को सागर से यह उपदेश मिला कि भगवान् की भक्ति में लगे मुनि का मन शान्त सागर के जल की भाँति अत्यन्त निर्मल तथा गम्भीर होता है। वर्षाऋतु में जब सारी बड़ी हुई नदियाँ अपना अपना जल लाकर समुद्र में उड़ेलती हैं, तो वह न तो उमड़ता है, न ही ग्रीष्मऋतु में जब नदियाँ जल नहीं लाती, तो सूखता है। इसी तरह जब मुनि को मनवांछित वस्तुएँ मिल जाती हैं, तो वह न तो फूलकर कुप्पा होता है, न ही उनके न मिलने से दुखी होता है।

पतंगे का उपदेश यह है कि जिस तरह वह अग्नि से मुग्ध होकर अपना प्राण गँवा देता है, उसी तरह अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकने वाला मूर्ख सोने के आभूषणों से लदी तथा सुन्दर वस्त्र पहिने औरतों के रूपों पर मुग्ध हो जाता है। भगवान् की दैवी माया के इन देहधारियों का पीछा करते हुए, वह असमय ही अपना प्राण गँवा देता है और घोर नरक में जा गिरता है।

भौरा तथा मधुमक्खी ये दो तरह के कीट हैं, भौरा से यह शिक्षा मिलती है कि मुनि को अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा भोजन एकत्र करना चाहिए और अपना जीवन बनाये रखने के लिए *मधुकरी* का पेशा अपनाना चाहिए। मुनि को समस्त शास्त्रों से, चाहे वे छोटे हों या बड़े, अनिवार्य सत्य का भी संग्रह करना चाहिए। दुसरे कीट मधुमक्खी से यह शिक्षा मिलती है कि भिक्षुक संन्यासी को भिक्षा से प्राप्त भोजन, न तो रात्रि के लिए, न ही अगले दिन के लिए रख छोड़ना चाहिए, क्योंकि यदि वह ऐसा करता है, तो वह, लालची मधुमक्खी की तरह उसके झुंड समेत, नष्ट कर दिया जायेगा।

हाथी से अवधूत को यह शिक्षा मिली थी कि जिस तरह शिकारी लोग नर-हाथियों को बंदिनी हथिनियों की ओर जाते समय गड्डे में गिराकर धोखे से पकड़ लेते हैं, उसी तरह स्त्री के रूप पर मुग्ध पुरुष भौतिक जीवन के गहरे कूप में गिरकर नष्ट हो जाता है।

मधुचोर से यह शिक्षा मिली थी कि जिस तरह वह मधुमक्खियों द्वारा बड़े ही यत्न से संचित मधु को चुराता है, उसी तरह संन्यास आश्रम को प्राप्त व्यक्ति को अन्य गृहस्थों की गाढ़ी कमाई से खरीदी वस्तुओं तथा भोजन का, दूसरों से पूर्व, भोग करने का अधिकार है।

हिरन से यह शिक्षा मिलती है कि जिस तरह वह शिकारी की बाँसुरी की तान सुनकर विकल हो उठता है और अपने प्राण गँवा देता है, उसी तरह संसारी संगीत के प्रति आकृष्ट होने वाला कोई भी व्यक्ति व्यर्थ ही अपना जीवन गँवा देता है।

मछली से यह शिक्षा मिलती है कि जिस तरह वह स्वादेन्द्रिय के वशीभूत होने से चारा लगी कँटिया में फँसकर मर जाती है, उसी तरह अज्ञानी व्यक्ति, जिसकी भूख कभी पूरी नहीं होती, अपना जीवन गँवा बैठता है।

किसी समय विदेह नगर में पिंगला नाम की एक वेश्या थी, जिससे उस अवधूत ने अन्य शिक्षा प्राप्त की। एक दिन पिंगला ने खूब आकर्षक वस्त्र तथा आभूषण पहने और सूर्यास्त से लेकर अर्धरात्रि तक किसी ग्राहक की प्रतीक्षा करती रही। वह आशान्वित होकर प्रतीक्षा करती गई, किन्तु समय बीतने के साथ उसका मन अशान्त हो उठा। उसके पास कोई पुरुष नहीं आया, अतएव घृणा से वह विरक्त हो गई और उसने अपने चाहने वाले किसी ग्राहक के आने की प्रतीक्षा छोड़ दी। तत्पश्चात्, उसने अपने को एकमात्र भगवान् हरि के चिन्तन में लगा दिया, तब उसके मन को परम शान्ति मिली। इससे यह शिक्षा मिलती है कि इन्द्रियतृप्ति की आशाएँ ही सारे कष्ट की जड़ हैं। इसलिए जिस किसी ने ऐसी लालसा त्याग दी है, वही भगवान् के ध्यान में अपने को स्थिर कर सकता है और दिव्य शान्ति पा सकता है।

श्रीब्राह्मण उवाच

सुखमैन्द्रियकं राजन्स्वर्गे नरक एव च ।

देहिनां यद्यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—उस साधु-ब्राह्मण ने कहा; सुखम्—सुख; ऐन्द्रियकम्—इन्द्रियों से उत्पन्न; राजन्—हे राजा; स्वर्गे—स्वर्ग में; नरके—तथा नरक में; एव—निश्चय ही; च—भी; देहिनाम्—देहधारी जीवों के; यत्—चूँकि; यथा—जिस तरह; दुःखम्—दुख; तस्मात्—इसलिए; न—नहीं; इच्छेत—इच्छा करे; तद्—वह; बुधः—जाननहारा।

साधु-ब्राह्मण ने कहा : हे राजन्, देहधारी जीव स्वर्ग या नरक में स्वतः दुख का अनुभव करता है। इसी तरह बिना खोजे ही सुख का भी अनुभव होता है। इसलिए बुद्धिमान तथा विवेकवान व्यक्ति ऐसे भौतिक सुख को पाने के लिए कभी कोई प्रयास नहीं करता।

तात्पर्य : मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति के पीछे अपना जीवन व्यर्थ ही नहीं गँवाना चाहिए, क्योंकि उसके विगत तथा वर्तमान सकाम कर्मों के फलस्वरूप उसे स्वतः ही भौतिक सुख की विशेष मात्रा उपलब्ध होगी। यह शिक्षा उस अजगर से प्राप्त की जाती है, जो लेटा रहता है और जो कुछ स्वयमेव आता है, उसी से वह अपना उदर-पोषण करता है। उल्लेखनीय बात तो यह है कि स्वर्ग तथा नरक दोनों में सुख तथा दुख स्वतः ही हमारे पूर्वकर्मों के फलस्वरूप आते हैं, यद्यपि सुख-दुख का अनुपात बदलता रहता

है। चाहे स्वर्ग में हो या नरक में, मनुष्य खाना, पीना, सोना और संभोग कर सकता है, किन्तु ये कर्म भौतिक देह पर आधारित होने के कारण क्षणभंगुर तथा असंगत हैं। बुद्धिमान व्यक्ति को देखना चाहिए कि अच्छा से अच्छा भौतिक पद भी ईश्वर-भक्ति के क्षेत्र से बाहर किये गये पिछले अवैध कर्मों के लिए दंडस्वरूप हैं। बद्धजीव को स्वल्प सुख पाने के लिए घोर कष्ट सहने पड़ते हैं। विपत्ति तथा दिखावे से पूर्ण भौतिक जीवन में संघर्ष करने के बाद भले ही किसी को थोड़ी-सी इन्द्रियतृप्ति मिल सके, किन्तु यह भ्रामक आनन्द उस कष्ट को कम नहीं कर पाता, जो उसे पाने के लिए सहना पड़ता है। कुछ भी हो, एक सुन्दर टोपी से सीधा-सादा, भोला चेहरा, सुन्दर नहीं हो जाता। यदि कोई सचमुच ही जीवन की समस्याओं को हल करना चाहता है, तो उसे सादा जीवन बिताना चाहिए और जीवन का अधिकांश भाग कृष्ण की प्रेमाभक्ति के लिए बचा रखना चाहिए। जो लोग ईश्वर की सेवा नहीं करते, उन्हें भी वे पालन-पोषण का एक स्तर प्रदान करते हैं इसलिए हम भगवान् द्वारा प्रदत्त उस सुरक्षा की कल्पना कर सकते हैं, जो उनकी भक्ति में अपना जीवन अर्पित कर देते हैं।

अपरिष्कृत सकाम कर्मी वर्तमान जीवन के विषय में व्यर्थ ही चिन्ता करते हैं, जबकि अधिक पवित्र कर्मीजन भावी भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लिए उद्धृत होकर विस्तृत व्यवस्था करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि ऐसा सारा भोग-विलास क्षणिक है। किन्तु असली समाधान तो यह समझ लेना है कि समस्त इन्द्रियों तथा समस्त इच्छाओं के स्वामी भगवान् को प्रसन्न करके मनुष्य स्थायी सुख पा सकता है। ऐसे ज्ञान से जीवन की समस्याएँ आसानी से हल हो जाती हैं।

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा ।

यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ग्रासम्—भोजन; सु-मृष्टम्—स्वच्छ तथा स्वादिष्ट; विरसम्—स्वादरहित; महान्तम्—बड़ी मात्रा में; स्तोकम्—छोटी मात्रा; एव—निश्चय ही; वा—अथवा; यदृच्छया—बिना निजी प्रयास के; एव—निस्सन्देह; आपतितम्—प्राप्त किया गया; ग्रसेत्—खा लेना चाहिए; आजगरः—अजगर की तरह; अक्रियः—निष्क्रिय, बिना प्रयास के उदासीन बने रहना।

अजगर का अनुकरण करते हुए मनुष्य को भौतिक प्रयास का परित्याग कर देना चाहिए और अपने उदर-पोषण के लिए उस भोजन को स्वीकार करना चाहिए, जो अनायास मिल जाय, चाहे वह स्वादिष्ट हो या स्वादरहित, पर्याप्त हो या स्वल्प।

शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः ।
यदि नोपनयेद्ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

शयीत—शान्तिपूर्वक रहता रहे; अहानि—दिनों तक; भूरीणि—अनेक; निराहारः—उपवास करते हुए; अनुपक्रमः—बिना प्रयास के; यदि—यदि; न उपनयेत्—नहीं आता; ग्रासः—भोजन; महा-अहिः—अजगर; इव—सदृश; दिष्ट—भाग्य द्वारा प्रदत्त; भुक्—खाते हुए।

यदि कभी भोजन न भी मिले, तो सन्त-पुरुष को चाहिए कि बिना प्रयास किये वह अनेक दिनों तक उपवास रखे। उसे यह समझना चाहिए कि ईश्वर की व्यवस्था के कारण उसे उपवास करना चाहिए। इस तरह अजगर का अनुसरण करते हुए उसे शान्त तथा धीर बने रहना चाहिए।

तात्पर्य : यदि ईश्वर की व्यवस्था द्वारा किसी को कठिनाई का सामना करना पड़े, तो उसे यह सोचना चाहिए, “मैं अपने विगत पापमय कर्मों के कारण दण्डित हो रहा हूँ। ईश्वर दयापूर्वक इस तरह मुझे विनीत बना रहे हैं।” शयीत् शब्द का अर्थ है कि मनुष्य क्षुब्ध हुए बिना शान्त तथा धीर बना रहे। दिष्ट-भुक् का अर्थ है कि मनुष्य भगवान् को परम नियन्ता माने और भौतिक असुविधा होने पर मूर्खतापूर्वक श्रद्धा को त्यागे नहीं। तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् (भागवत १०.१४.८)। भगवद्भक्त सदा ही भौतिक कष्ट को भगवान् कृष्ण की कृपा मानता है और इस तरह वह परम मुक्ति का पात्र बन जाता है।

ओजःसहोबलयुतं बिभ्रद्देहमकर्मकम् ।
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ओजः—काम-शक्ति; सहः—मानसिक शक्ति; बल—शारीरिक शक्ति; युतम्—से युक्त; बिभ्रत्—पालन-पोषण करते हुए; देहम्—शरीर को; अकर्मकम्—बिना प्रयास के; शयानः—शान्त रहते हुए; वीत—मुक्त; निद्रः—अज्ञान से; च—तथा; न—नहीं; ईहेत—प्रयास करे; इन्द्रिय-वान्—पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा काम-शक्ति से युक्त; अपि—यद्यपि।

सन्त-पुरुष को शान्त रहना चाहिए और भौतिक दृष्टि से अक्रिय रहना चाहिए। उसे बिना अधिक प्रयास के अपने शरीर का पालन-पोषण करना चाहिए। पूर्ण काम, मानसिक तथा शारीरिक शक्ति से युक्त होकर भी सन्त-पुरुष को भौतिक लाभ के लिए सक्रिय नहीं होना चाहिए, अपितु अपने वास्तविक स्वार्थ के लिए सदैव सतर्क रहना चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक में वीत-निद्रः शब्द महत्वपूर्ण है। निद्रा का अर्थ है “नींद” अथवा “अविद्या” तथा वीत का अर्थ है “से मुक्त”। दूसरे शब्दों में योगी को सदैव भगवान् से अपने नित्य

सम्बन्ध के प्रति जागरूक रहना चाहिए और सतर्कता से कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करना चाहिए। भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध के प्रति आश्वस्त होकर उसे यह जानते हुए कि भगवान् सब प्रकार से उसकी रक्षा करेंगे, अपने निजी निर्वाह के लिए प्रयास नहीं करना चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि अजगर का उदाहरण दिया गया है, जिससे मनुष्य व्यर्थ ही अपने शारीरिक लालन-पालन में समय न गँवाये।

किन्तु मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि जीवन का लक्ष्य जमीन पर अजगर की तरह लेटे रहना है या शरीर को भूखों मारने का प्रदर्शन करना है। अजगर के उदाहरण से मनुष्य को पूर्णतया निष्क्रिय होने के लिए प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। प्रत्युत उसे आध्यात्मिक उन्नति में सक्रिय और भौतिक इन्द्रियतृप्ति में निष्क्रिय होना चाहिए। यदि कोई पूर्णतया निष्क्रिय हो जाता है, तो वह निश्चित रूप से निद्रा या अविद्या का अंधकार है, जिसमें मनुष्य भगवान् के नित्यदास के रूप में अपने स्वरूप को नहीं पहचान पाता।

योगी भगवान् की सेवा करने के लिए उत्सुक रहता है, अतएव जब भगवान् ऐसी सेवा के लिए भौतिक सुविधाएँ प्रदान करते हैं, तो वह अत्यन्त कृतज्ञ हो जाता है। भौतिक जगत का केवल परित्याग फल्यु वैराग्य है। मनुष्य को युक्त वैराग्य प्राप्त करना चाहिए, जिसमें वह हर वस्तु भगवान् की सेवा में लगाता है। यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि कृष्णभावनामृत का प्रसार करने में लीन भक्त अपने निजी पालन-पोषण के लिए स्वतः ही सारी सुविधाएँ प्राप्त करता है।

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः ।

अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मुनिः—मुनि; प्रसन्न—प्रसन्न; गम्भीरः—अत्यन्त गम्भीर; दुर्विगाह्यः—अगाध; दुरत्ययः—दुर्लभ्य; अनन्त-पारः—असीम; हि—निश्चय ही; अक्षोभ्यः—अक्षुब्ध; स्तिमित—शान्त; उदः—जल; इव—सदृश; अर्णवः—समुद्र।

मुनि अपने बाह्य आचरण में सुखी और मधुर होता है, किन्तु भीतर से अत्यन्त गम्भीर तथा विचारवान होता है। चूँकि उसका ज्ञान अगाध तथा असीम होता है, अतः वह कभी क्षुब्ध नहीं होता। इस तरह वह सभी प्रकार से अगाध तथा दुर्लभ्य सागर के शान्त जल की तरह होता है।

तात्पर्य : घोर विपत्ति में भी, स्वरूपसिद्ध मुनि अपना संयम नहीं खोता, न ही उसका आध्यात्मिक ज्ञान समाप्त होता है। इस तरह वह अक्षोभ्य अर्थात् अक्षुब्ध रहता है। उसका मन भगवान् पर स्थिर रहता है, जो असीम आध्यात्मिक आनन्द के आगार हैं। अपनी चेतना को परम चेतना से जोड़ने के कारण उसका ज्ञान मापा नहीं जा सकता। भगवान् के चरणकमलों की शरण ले लेने के बाद शुद्ध भक्त में महान् आध्यात्मिक शक्ति आ जाती है, अतएव वह दुर्लभ्य बन जाता है। वस्तुतः अपना आध्यात्मिक शरीर विकसित कर लेने पर वह काल की क्षयकारी क्रिया से प्रभावित नहीं होता। यद्यपि बाहर से वह हर एक से मैत्रीभाव रखता है तथा मधुर रहता है, किन्तु भीतर से उसका मन परम सत्य पर स्थिर रहता है और कोई भी व्यक्ति उसके वास्तविक उद्देश्य या उसकी योजना को समझ नहीं सकता। यहाँ तक कि सबसे बुद्धिमान व्यक्ति तक उस स्वरूपसिद्ध भक्त की मानसिक क्रियाओं को नहीं समझ पाता, जिसने काम तथा लोभ पर आधारित भौतिक जीवन का परित्याग कर दिया है और भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है। ऐसे महात्मा की उपमा विशाल समुद्र से दी जा सकती है। समुद्र में असंख्य शक्तिशाली नदियाँ प्रवेश करती हैं, किन्तु समुद्र शान्त रहा करता है। इस प्रकार समुद्र की तरह सन्त-पुरुष को मधुर, अगाध, गम्भीर, दुर्लभ्य, असीम तथा अचल समझना चाहिए।

समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः ।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्धिरिव सागरः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

समृद्ध—सम्पन्न; कामः—भौतिक ऐश्वर्य; हीनः—रहित, विहीन; वा—अथवा; नारायण—भगवान्; परः—परम मानते हुए;
मुनिः—सन्त भक्त; न—नहीं; उत्सर्पेत—बढ़ जाता है; न—नहीं; शुष्येत—सूख जाता है; सरिद्धिः—नदियों के द्वारा; इव—सदृश; सागरः—समुद्र।

वर्षाऋतु में उफनती हुई नदियाँ सागर में जा मिलती हैं और ग्रीष्मऋतु में उथली होने से उनमें जल की मात्रा बहुत कम हो जाती है। फिर भी समुद्र न तो वर्षाऋतु में उमड़ता है, न ही ग्रीष्मऋतु में सूखता है। इसी तरह से जिस सन्त-भक्त ने भगवान् को अपने जीवन का लक्ष्य स्वीकार किया है, उसे कभी तो भाग्य से प्रचुर भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है और कभी वह अपने को भौतिक दृष्टि से कंगाल पाता है। फिर भी भगवान् का ऐसा भक्त न तो प्रोन्नति के समय हर्षित होता है, न दरिद्र बनने पर खिन्न होता है।

तात्पर्य : भगवान् का निष्ठावान भक्त प्रभु से मिलने के लिए तथा उनकी दिव्य सेवा करने के लिए सदैव उत्सुक रहता है। वह भगवान् के चरणकमलों पर एक क्षुद्र कण की तरह स्थिर रहना चाहता है, क्योंकि भगवान् कृष्ण या नारायण समस्त आनन्द के आगार हैं। शुद्ध कृष्णभावनामृत का अनुभव करके वह हर्षित होता है और खिन्न तब होता है, जब उसके मन में कृष्ण उपस्थित नहीं होते। भौतिक जगत के साथ अपने बर्तावों में भक्त उन सामान्य भौतिकतावादी व्यक्तियों द्वारा उसी तरह क्षुब्ध नहीं किये जा सकते, जो कभी कभी उसका अपमान करते हैं और इन्द्रियतृप्ति की उपेक्षा करने का दोषारोपण करते हैं, जिस तरह समुद्र को उसमें प्रवेश करने वाली असंख्य नदियाँ विक्षुब्ध नहीं कर पातीं। कभी कभी काम-वासना से युक्त स्त्रियाँ शुद्ध भक्त के पास जा पहुँचती हैं और कभी कभी निर्विशेष दार्शनिक भगवान् के विरुद्ध तर्क करने का प्रयास करते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त ऐसे सामान्य लोगों से विरक्त रहता है और अपने आनन्दमय कृष्णभावनामृत में अविचल रहता है।

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः ।

प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतद्भवत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; स्त्रियम्—स्त्री को; देव-मायाम्—भगवान् की माया से, जिसका रूप निर्मित हुआ है; तत्-भावैः—स्त्री के मोहक कार्यों से; अजित—जिसने वश में नहीं किया; इन्द्रियः—अपनी इन्द्रियाँ; प्रलोभितः—मुग्ध; पतति—नीचे गिरता है; अन्धे—अज्ञान के अंधकार में; तमसि—नरक के अंधकार में; अग्नौ—अग्नि में; पतद्-वत्—पतिंगे की तरह।

जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाता, वह परमेश्वर की माया से उत्पन्न स्त्री के स्वरूप को देखकर तुरन्त आकृष्ट हो जाता है। दरअसल जब कोई स्त्री मोहक शब्द बोलती है, नखरे से हँसती है और अपने शरीर को काम-वासना से युक्त होकर मटकाती है, तो मनुष्य का मन तुरन्त मुग्ध हो जाता है और वह भव-अंधकार में उसी तरह जा गिरता है, जिस तरह पतिंगा अग्नि पर मदान्ध होकर उसकी लपटों में तेजी से गिर पड़ता है।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि जिस तरह पतिंगा अग्नि के रूप से आकृष्ट होकर मारा जाता है, उसी तरह भौरा भी फूलों की सुगन्धि के आकर्षण से मारा जा सकता है। यही नहीं, शिकारी लोग हाथी द्वारा बन्दिनी हथिनी का स्पर्श पाने की इच्छा का लाभ उठाकर उसे फँसा कर मार डालते हैं। वे अपने वाद्यों की आवाज से हिरन को भी आकृष्ट करके मार सकते हैं। मछली काँटे में लगे चारे को खाने की इच्छा के कारण मारी जाती है। इस तरह जो व्यक्ति माया से विरक्त होना

सीखना चाहता है, उसे इन पाँचों असहाय प्राणियों को अपना गुरु मान लेना चाहिए और जो आवश्यक हो वह सीखना चाहिए। यह निश्चित है कि जो व्यक्ति स्त्री के माया रूप का भोग करने के लिए कामातुर होता है, वह तुरन्त ही माया में विलीन हो जाता है। पाँच प्रकार के भौतिक ऐन्द्रिय पदार्थों के घातक आकर्षणों में, रूप से मिलने वाली शिक्षा इस श्लोक में प्रदर्शित है।

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-

द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।

प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या

पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

योषित्—स्त्री के; हिरण्य—सुनहरे; आभरण—गहने; अम्बर—वस्त्र; आदि—इत्यादि; द्रव्येषु—ऐसी वस्तुओं के देखने पर; माया—भगवान् की माया द्वारा; रचितेषु—निर्मित; मूढः—विवेकहीन मूर्ख; प्रलोभित—काम-वासना से जाग्रत; आत्मा—ऐसा व्यक्ति; हि—निश्चय ही; उपभोग—इन्द्रियतृप्ति के लिए; बुद्ध्या—इच्छा से; पतङ्ग-वत्—पतिंगा की तरह; नश्यति—नष्ट हो जाता है; नष्ट—नष्ट हो गई है; दृष्टिः—जिसकी बुद्धि।

विवेकरहित मूर्ख व्यक्ति सुनहले गहनों, सुन्दर वस्त्रों और अन्य प्रसाधनों से युक्त कामुक स्त्री को देखकर तुरन्त ललचा हो उठता है। ऐसा मूर्ख इन्द्रियतृप्ति के लिए उत्सुक होने से अपनी सारी बुद्धि खो बैठता है और उसी तरह नष्ट हो जाता है, जिस तरह जलती अग्नि की ओर दौड़ने वाला पतिंगा।

तात्पर्य : वस्तुतः, स्त्रियों में पुरुषों को सभी भौतिक इन्द्रियों से आकृष्ट करने की शक्ति होती है। पुरुष लोग स्त्री के शरीर को देखकर, उसकी सुगन्ध को सूँघकर, उसकी वाणी सुनकर, उसके अधरों का आस्वादन करके तथा उसका शरीर स्पर्श करके कामासक्त हो उठते हैं। किन्तु यौन-आकर्षण पर आधारित मूर्खतापूर्ण सम्बन्ध की शुरुआत देखने से होती है। इस तरह किसी की बुद्धि को नष्ट करने की प्रक्रिया में रूप का बहुत बड़ा हाथ रहता है। आधुनिक काल में इस तथ्य का दुरुपयोग विशाल अश्लील साहित्य के व्यापार में किया गया है, जो बेचारे पुरुषों तथा स्त्रियों को अपना शिकार बनाता है। इस सन्दर्भ में अग्नि में प्रविष्ट होकर अपने को नष्ट करने वाले पतिंगे का दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि जो भी क्षणिक काम-सुख का अभ्यस्त हो जाता है, वह नीरस पदार्थ के पीछे छुपी आध्यात्मिक सचाई को समझने की शक्ति खो बैठता है।

कामी पुरुष यौन-लत के कारण अन्धा तथा मूर्ख बन जाता है और उसकी आत्मा इन्द्रियतृप्ति की अग्नि में नष्ट हो जाती है। इस सारी आपदा से बचा जा सकता है, यदि भगवन्नाम के कीर्तन को गम्भीरतापूर्वक अपनाया जाये। श्री चैतन्य महाप्रभु तथा श्रील प्रभुपाद जैसे उनके शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधियों ने लोगों को भौतिक जीवन के गर्त से उबारने के लिए एक आन्दोलन चलाया है। हमें इस अवसर का पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिए।

स्तोकं स्तोकं ग्रसेद्ग्रासं देहो वर्तेत यावता ।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद्वृत्तिं माधुकरिं मुनिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

स्तोकम् स्तोकम्—थोड़ा थोड़ा करके; ग्रसेत्—खाये; ग्रासम्—भोजन; देहः—शरीर; वर्तेत—जिससे जीवित रह सके;
यावता—उतने से; गृहान्—गृहस्थों को; अहिंसन्—तंग न करते हुए; आतिष्ठेत्—अभ्यास करे; वृत्तिम्—पेशा, व्यवसाय; माधु-
करीम्—मधुमक्खी का; मुनिः—सन्त-पुरुष।

सन्त-पुरुष को उतना ही भोजन स्वीकार करना चाहिए, जितने से उसका जीवन-निर्वाह हो सके। उसे द्वार-द्वार जाकर प्रत्येक परिवार से थोड़ा-थोड़ा भोजन स्वीकार करना चाहिए। इस तरह उसे मधुमक्खी की वृत्ति का अभ्यास करना चाहिए।

तात्पर्य : कभी कभी मधुमक्खी किसी विशेष कमल पुष्प की असाधारण सुगंध से आकृष्ट होकर वहीं मँडराती रहती है और वह एक फूल से दूसरे फूल पर मँडराते रहने के सामान्य कार्य की उपेक्षा कर देती है। दुर्भाग्यवश सूर्यास्त होने पर कमल का फूल बन्द हो जाता है और इस तरह लालची मधुमक्खी उसी में बन्दी बन जाती है। इसी प्रकार संन्यासी या ब्रह्मचारी यह पता लगाकर कि किसी विशेष घर से उत्तम भोजन मिल सकता है, द्वार द्वार न जाकर उस विशेष धनाढ्य घर का वासी बन सकता है। इस तरह वह गृहस्थ-जीवन की माया से मोहित हो जाता है और वैराग्य के पद से नीचे गिर जाता है। यही नहीं, यदि कोई संन्यासी या साधु दान की वैदिक प्रथा का बुरा लाभ उठाता है और प्रायः एक ही घर से दान लेता रहता है, तो इससे जो क्रोध पैदा होगा उससे सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जायेगी। आदर्श मुनि को मधुमक्खी की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करते रहना चाहिए, किन्तु उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि अनेक घरों में जाकर वह हर घर से प्रचुर भोजन खाकर मोटी-ताजी मधुमक्खी न बन जाये। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ऐसी तुन्दिल मक्खी निस्संदेह माया के जाल में फँस जाएगी। किसी को भी अपनी जीभ की तृप्ति के लिए अत्यधिक

अनुरक्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि इससे पेट में अधिक भोजन जायेगा और अनियंत्रित काम-वासना उत्पन्न होगी। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लिए अधिक प्रयास नहीं करना चाहिए, बल्कि भगवान् कृष्ण की महिमा को प्रसारित करने में अत्यधिक प्रयत्न करना चाहिए। मानव-शक्ति का यही उचित उपयोग है।

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात्पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अणुभ्यः—छोटे से छोटे से लेकर; च—तथा; महद्भ्यः—सबसे बड़े से; च—भी; शास्त्रेभ्यः—शास्त्रों से; कुशलः—बुद्धिमान; नरः—मनुष्य; सर्वतः—सबों से; सारम्—निचोड़, सार; आदद्यात्—ग्रहण करे; पुष्पेभ्यः—फूलों से; इव—सदृश; षट्पदः—मधुमक्खी।

जिस तरह मधुमक्खी बड़े तथा छोटे सभी प्रकार के फूलों से मधु ग्रहण करती है, उसी तरह बुद्धिमान मनुष्य को समस्त धार्मिक शास्त्रों से सार ग्रहण करना चाहिए।

तात्पर्य : मानव समाज में मूल ज्ञान वेद कहलाता है और वेद का मुख्य अंश कृष्णभावनामृत है। जैसाकि भगवद्गीता (१५.१५) में कहा गया है वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। मनुष्य को चाहिए कि मधुमक्खी से समस्त ज्ञान का सार या मधु ग्रहण करना सीखे। मधुमक्खी पूरी झाड़ी या बगीचे को ले जाने में अपना समय नष्ट नहीं करती प्रत्युत वह आवश्यक मधु ले जाती है। इस तरह हम मधुमक्खी तथा भारी बोझ ढोने वाले गधे में जो अन्तर है उसका अध्ययन कर सकते हैं। शिक्षा का अर्थ यह नहीं है कि व्यर्थ के ज्ञान का गट्टर ढोकर बौद्धिक गधा बना जाय अपितु मनुष्य को ऐसा आवश्यक ज्ञान ग्रहण करना चाहिए, जिससे आनन्द तथा ज्ञान का नित्य जीवन प्राप्त हो।

सम्प्रति लोगों में धर्म की साम्प्रदायिक धारणा पाई जाती है, फिर भी उनमें परम सत्य की कोई वैज्ञानिक जानकारी नहीं होती ऐसे असतर्क रूढ़िवादी साम्प्रदायिक धर्मविद् इस श्लोक में दिये गये मधुमक्खी के दृष्टान्त से निश्चय ही कुछ न कुछ सीख सकते हैं।

सायन्तनं श्वस्तनं वा न सङ्गृहीत भिक्षितम् ।
पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न सङ्ग्रही ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सायन्तनम्—रात के निमित्त; श्वस्तनम्—कल के लिए; वा—अथवा; न—नहीं; सङ्गृहीत—स्वीकार करे; भिक्षितम्—भिक्षा; पाणि—हाथ से; पात्र—स्तरी के रूप में; उदर—पेट से; अमत्रः—संग्रह पात्र (कोठार) की तरह; मक्षिका—मधुमक्खी; इव—सदृश; न—नहीं; सङ्ग्रही—संग्रह करने वाला।

सन्त-पुरुष को यह नहीं सोचना चाहिए “मैं इस भोजन को आज रात के लिए रखूँगा और इस दूसरे भोजन को कल के लिए बचा लूँगा।” दूसरे शब्दों में, सन्त-पुरुष को भीख से प्राप्त भोज्य सामग्री का संग्रह नहीं करना चाहिए। प्रत्युत उसे अपने हाथ को ही पात्र बनाकर उसमें जितना आ जाय उसी को खाना चाहिए। उसका एकमात्र कोठार उसका पेट होना चाहिए और उसके पेट में आसानी से जितना आ जाय वही उसका भोजन-संग्रह होना चाहिए। इस तरह उसे लोभी मधुमक्खी का अनुकरण नहीं करना चाहिए, जो अधिक से अधिक मधु एकत्र करने के लिए उत्सुक रहती है।

तात्पर्य : मधुमक्खियाँ दो प्रकार की होती हैं एक वे जो फूलों से रस एकत्र करती हैं और दूसरी वे जो छत्ते में मधु तैयार करती हैं। इस श्लोक में दूसरे प्रकार की मधुमक्खी का उल्लेख हुआ है। लोभी मधुमक्खी अन्ततः इतना मधु एकत्र कर लेती है कि वह अपने छत्ते में फँस जाती है। इसी तरह भौतिकतावादी व्यक्ति अनावश्यक भौतिक संचय के भार के नीचे दब जाता है। आध्यात्मिक उन्नति चाहने वाले को ऐसी स्थिति से बचना चाहिए। किन्तु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि कृष्णभावनामृत का विस्तार करने के लिए मनुष्य अपार भौतिक ऐश्वर्य संचित कर सकता है। यह युक्त वैराग्य कहलाता है अर्थात् हर वस्तु को कृष्ण की सेवा में लगाया जाना। जो सन्त-पुरुष श्री चैतन्य महाप्रभु के मिशन में कार्य करने में अक्षम होता है, उसे तपस्या करनी चाहिए और उसे उतना ही संग्रह करना चाहिए जितना कि वह अपने हाथों में तथा उदर में भर सके। किन्तु जिसने अपना जीवन कृष्ण को समर्पित कर दिया है, वह कृष्ण की ओर से असीम संग्रह कर सकता है। वस्तुतः भौतिक ऐश्वर्य को प्राप्त किये बिना संसार-भर में कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विस्तार कर पाना कैसे सम्भव हो सकता है? किन्तु यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत आन्दोलन के मिशनरी कार्यों के लिए एकत्र धन या सुविधाओं का भोग अपने लिये करता है, तो वह घोरतम अपराध करता है। अतः कृष्ण के नाम पर भी मनुष्य उतना ही संग्रह करे जितना कि वह तुरन्त ही व्यावहारिक भक्ति में लगा दे; अन्यथा वह सामान्य लोभ के स्तर पर गिर जाएगा।

सायन्तनं श्वस्तनं वा न सङ्गृहीत भिक्षुकः ।
मक्षिका इव सङ्गृह्णन्सह तेन विनश्यति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सायन्तनम्—रात के लिए; श्वस्तनम्—कल के लिए; वा—अथवा; न—नहीं; सङ्गृहीत—स्वीकार करे; भिक्षुकः—सन्त-साधु; मक्षिका—मधुमक्खी; इव—सदृश; सङ्गृह्णन्—एकत्र करते हुए; सह—साथ; तेन—उससंग्रह के; विनश्यति—नष्ट हो जाता है।

साधु-संत को उसी दिन या अगले दिन खाने के लिए भी भोजन का संग्रह नहीं करना चाहिए। यदि वह इस आदेश की अवहेलना करता है और मधुमक्खी की तरह अधिक से अधिक स्वादिष्ट भोजन एकत्र करता है, तो उसने, जो कुछ एकत्र किया है, वह निस्सन्देह उसे नष्ट कर देगा।

तात्पर्य : श्रमर द्योतक है उस मधुमक्खी का जो एक फूल से दूसरे फूल में मँडराती रहती है, जबकि मक्षिका वह मधुमक्खी है, जो छत्ते में बड़े ही लगाव के साथ अधिकाधिक शहद संचित करती है। साधु संत को श्रमर के समान होना चाहिए, क्योंकि यदि वह मक्षिका का अनुकरण करता है, तो उसकी आध्यात्मिक चेतना नष्ट हो जायेगी। यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसे इस श्लोक में दुहराया गया है।

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि ।
स्पृशन्करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पदा—पाँव से; अपि—भी; युवतीम्—युवती को; भिक्षुः—साधु संत; न—नहीं; स्पृशेत्—छूना चाहिए; दारवीम्—लकड़ी की बनी; अपि—भी; स्पृशन्—स्पर्श करते हुए; करी—हाथी; इव—सदृश; बध्येत—बँधा लेता है; करिण्याः—हथिनी के; अङ्ग-सङ्गतः—शरीर के स्पर्श से।

सन्त-पुरुष को चाहिए कि वह किसी युवती का स्पर्श न करे। वस्तुतः, उसे काठ की बनी स्त्री के स्वरूप वाली गुड़िया को भी अपने पाँव से भी स्पर्श नहीं होने देना चाहिए। स्त्री के साथ शारीरिक सम्पर्क होने पर वह निश्चित ही उसी तरह माया द्वारा बन्दी बना लिया जायेगा, जिस तरह हथिनी के शरीर का स्पर्श करने की इच्छा के कारण हाथी पकड़ लिया जाता है।

तात्पर्य : जंगल में हाथियों को निम्नलिखित ढंग से पकड़ा जाता है। एक बड़ा-सा गड्ढा खोदा जाता है और उसे घास, पत्तियों, कीचड़ इत्यादि से ढँक दिया जाता है। तब हाथी के सामने हथिनी लाई जाती है, तो वह कामुक होकर वासना के कारण उसका पीछा करता है और गड्ढे में गिर जाता है और तब पकड़ लिया जाता है। हाथी से यह शिक्षा ग्रहण की जा सकती है कि स्पर्श की अनुभूति का

आस्वादन करने की इच्छा मनुष्य के जीवन को निश्चय ही चौपट कर देती है। बुद्धिमान मनुष्य हाथी द्वारा हथिनी के साथ केलि करने की तीव्र इच्छा को देखकर इस उत्तम दृष्टान्त को हृदयस्थ कर लेगा। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि स्त्री के कामोत्तेजक रूप के सम्मोहन से कभी धोखा न खाये। मनुष्य को यौन-आनन्द के वासनामय सपनों में अपने मन को खोने नहीं जाने देना चाहिए। पुरुषों तथा स्त्रियों के मध्य अनेक प्रकार की इन्द्रियतृप्ति का आनन्द लिया जा सकता है—जिनमें वार्तालाप, सोच विचार, स्पर्श करना तथा संभोग इत्यादि सम्मिलित हैं। ये सभी माया के जाल को बुनते हैं, जिसके द्वारा मनुष्य पशु की तरह असहाय होकर बाँध लिया जाता है। मनुष्य को चाहिए कि जैसे-तैसे यौन-आनन्दस्वरूपा इन्द्रियतृप्ति से दूर रहे अन्यथा आध्यात्मिक जगत को समझा जाना संभव नहीं हो सकता।

नाधिगच्छेत्स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः ।

बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

न अधिगच्छेत्—आनन्द पाने के लिए नहीं जाये; स्त्रियम्—स्त्री; प्राज्ञः—जो बुद्धिमत्तापूर्वक भेदभाव कर सके; कर्हिचित्—किसी समय; मृत्युम्—साक्षात् मृत्यु; आत्मनः—अपने लिए; बल—बल में; अधिकैः—जो श्रेष्ठ हैं उनके द्वारा; सः—वह; हन्येत—विनष्ट कर दिया जायेगा; गजैः—हाथियों के द्वारा; अन्यैः—अन्यों के लिए; गजः—हाथी; यथा—जिस तरह।

विवेकवान् व्यक्ति को किसी भी परिस्थिति में अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए स्त्री के सुन्दर रूप का लाभ उठाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। जिस तरह हथिनी से संभोग करने का प्रयास करने वाला हाथी उसके साथ संभोग कर रहे अन्य हाथियों के द्वारा मार डाला जाता है, उसी तरह, जो व्यक्ति किसी नारी के साथ संभोग करना चाहता है, वह किसी भी क्षण उसके अन्य प्रेमियों द्वारा मार डाला जा सकता है, जो उससे अधिक बलिष्ठ होते हैं।

तात्पर्य : जिस तरह कोई व्यक्ति किसी स्त्री के सुन्दर रूप द्वारा मोहित हो जाता है, उसी तरह अनेक अन्य पुरुष भी मोहित हो सकते हैं और इसका खतरा रहता है कि वे उस व्यक्ति से अधिक बलवान् हों और ईर्ष्यावश उसे मार भी डालें। काम-वासना के अपराध अत्यन्त सामान्य हैं। भौतिक जीवन का यह दूसरी अकारण है।

न देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद्दुःखसञ्चितम् ।

भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; देयम्—अन्यों को दान में दिये जाने के लिए; न—नहीं; उपभोग्यम्—स्वयं भोगे जाने के लिए; च—भी; लुब्धैः—लोभीजनों के द्वारा; यत्—जो; दुःख—अत्यन्त संघर्ष तथा कष्ट से; सञ्चितम्—एकत्र किया जाता है; भुङ्क्ते—भोग करता है; तत्—वह; अपि—तिस पर भी; तत्—वह; च—भी; अन्यः—अन्य कोई; मधु-हा—छत्ते से शहद चुराने वाला; इव—सदृश; अर्थ—धन; वित्—जो यह जानता है कि किस तरह पहचाना जाय; मधु—शहद।

लोभी व्यक्ति बहुत संघर्ष तथा कष्ट से प्रचुर मात्रा में धन एकत्र करता है, किन्तु इस धन को एकत्र करने वाले व्यक्ति को इसका भोग करने या अन्यों को दान हमेशा करने नहीं दिया जाता। लोभी व्यक्ति उस मधुमक्खी के समान है, जो प्रचुर मात्रा में शहद उत्पन्न करने के लिए संघर्ष करती है, किन्तु इसे उस व्यक्ति द्वारा चुरा लिया जाता है, जो या तो स्वयं उसका भोग करता है या अन्यों को बेच देता है। कोई चाहे कितनी सावधानी के साथ अपनी कठिन कमाई को क्यों न छिपाये या उसकी रक्षा करने का प्रयास करे, किन्तु मूल्यवान् वस्तुओं का पता लगाने वाले पटु लोग उसे चुरा ही लेंगे।

तात्पर्य : कोई यह तर्क कर सकता है कि धनी व्यक्ति अपने धन को बैंकों, स्टॉकों, जायदादों इत्यादि में लगाकर इतनी खूबी से छिपा सकता है कि चोरी का कोई खतरा नहीं रहता। जो मूर्ख हैं, वे ही धन को धरती में गाड़कर या चटाई के नीचे रखकर छिपायेंगे। किन्तु इस तथ्य के बावजूद कि विश्व की अधिकांश सम्पत्ति अत्यन्त विकसित पूँजीवादी देशों में संचित की जाती है, ऐसे अनेक शत्रु हैं, जो इन देशों को बुरी तरह से चुनौती देते हैं और जो किसी भी समय पूँजीवादियों को विनष्ट करने और उनकी सम्पत्ति चुराने के लिए हुँकारते रहते हैं। इसी तरह प्रायः देखा जाता है कि धनी लोगों के बच्चों का अपहरण कर लिया जाता है और तब उनके माता-पिता छुड़ाने के लिए फिरौती में प्रचुर धन देते हैं। कभी कभी माता-पिता का भी अपहरण हो सकता है। फिर कुछ तथाकथित पूँजी-निवेश सलाहकार होते हैं, जो धनी लोगों के धन को चुराने में दक्ष होते हैं और आधुनिक युग में तो सरकारें भी कर लगाकर धन चुराने में दक्ष बन गई हैं। इस प्रकार अर्थ-वित् शब्द सूचक है, उसका जो अन्य लोगों की गाढ़ी कमाई को किसी न किसी तरह चुराने में पटु हैं। मक्खियाँ शहद बनाने में जी-तोड़ मेहनत करती हैं, किन्तु उन्हें अपने शहद का भोग करने को नहीं मिलता। जैसाकि भगवान् कृष्ण कहते हैं मृत्युः सर्वहरश्चाहम्—मैं साक्षात् मृत्यु बनकर हर वस्तु चुरा लूँगा (भगवद्गीता १०.३४)। मनुष्य की

गाढ़ी कमाई किसी न किसी रूप में चुरा ली जाती है, अतएव जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है मनुष्य को मूर्ख मधुमक्खी की तरह व्यर्थ ही परिश्रम नहीं करना चाहिए।

सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः ।
मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सु-दुःख—अत्यधिक संघर्ष से; उपार्जितैः—अर्जित किया गया; वित्तैः—भौतिक ऐश्वर्य से; आशासानाम्—अत्यधिक इच्छा रखने वालों के; गृह—घरेलू भोग से सम्बद्ध; आशिषः—आशीर्वाद, वर; मधु-हा—शहद-चोर; इव—सदृश; अग्रतः—प्रथम, औरों से पहले; भुङ्क्ते—भोग करता है; यतिः—भिक्षु, साधु-संत; वै—निश्चय ही; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थ-जीवन के प्रति समर्पित लोगों के।

जिस प्रकार शहद-चोर मधुमक्खियों द्वारा बड़े ही परिश्रमपूर्वक एकत्र की गई शहद को निकाल लेता है, उसी तरह ब्रह्मचारी तथा संन्यासी जैसे साधु-संत पारिवारिक भोग में समर्पित गृहस्थों द्वारा बहुत ही कष्ट सहकर संचित किये गये धन का भोग करने के अधिकारी हैं।

तात्पर्य : शास्त्रों का कथन है, “संन्यास आश्रम के भिक्षु तथा ब्रह्मचारी जनों को गृहस्थों द्वारा तैयार किया गया अच्छे से अच्छा भोजन खाने का पहला अधिकार होता है। यदि गृहस्थ ऐसे भोजन को भिक्षुओं को दान दिये बिना स्वयं खाता है, तो ऐसे असावधान गृहस्थों को चान्द्रायण उपवास रखना पड़ता है।” गृहस्थ-जीवन में प्रचुर दान देकर ही स्वार्थोन्मुखी सहज प्रवृत्ति पर विजय पाई जा सकती है। आधुनिक समाज मूर्खतावश ऐसे वैदिक आदेशों का पालन नहीं करता फलस्वरूप यह संसार ईर्ष्यालु गृहमेधियों से—निजी इन्द्रियतृप्ति में मस्त रहने वालों से पट चुका है। इसीलिए सारा जगत हिंसा तथा कष्ट की अनियंत्रित टूटन से पीड़ित है। यदि कोई व्यक्ति शान्तिपूर्वक जीना चाहता है, तो उसे गृहस्थ-जीवन को नियमित बनाने वाले वैदिक आदेशों का पालन करना चाहिए। यद्यपि गृहस्थ लोग धन संग्रह करने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं, किन्तु संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों को अधिकार प्राप्त है कि वे ऐसे परिश्रम के फल का भोग सबसे पहले करें। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभावनामृत में आध्यात्मिक उन्नति को प्राथमिकता दे और इस प्रकार अपने जीवन को पूर्ण बनाए। तब बिना किसी निजी प्रयास के भगवान् की कृपा से मनुष्य की सभी आवश्यकताएँ पूरी हो जायेंगी।

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद्यतिर्वनचरः क्वचित् ।
शिक्षेत हरिणाद्बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

ग्राम्य—इन्द्रियतृप्ति से सम्बद्ध; गीतम्—गीत; न—नहीं; शृणुयात्—सुने; यतिः—साधु-संत; वन—जंगल में; चरः—विचरण करते; क्वचित्—कभी; शिक्षेत—सीखे; हरिणात्—हिरन से; बद्धान्—बाँधे गये; मृगयोः—शिकारी के; गीत—गीत द्वारा; मोहितात्—मोहित किये गये।

वनवासी सन्यासी को चाहिए कि भौतिक भोग को उत्तेजित करने वाले गीत या संगीत को कभी भी न सुने। प्रत्युत सन्त पुरुष को चाहिए कि ध्यान से उस हिरन के उदाहरण का अध्ययन करे, जो शिकारी के वाद्य के मधुर संगीत से विमोहित होने पर पकड़ लिया जाता है और मार डाला जाता है।

तात्पर्य : यदि मनुष्य भौतिकतावादी संगीत तथा गीतों से होने वाली इन्द्रियतृप्ति में अनुरक्त हो जाता है, तो उसमें भौतिक बन्धन के सारे गुण उत्पन्न हो जायेंगे। मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् द्वारा गाया गया गीत अर्थात् *भगवद्गीता* को सुने।

नृत्यवादित्रगीतानि जुषन्ग्राम्याणि योषिताम् ।
आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नृत्य—नाच; वादित्र—वादन; गीतानि—गीतों को; जुषन्—अनुशीलन करते हुए; ग्राम्याणि—इन्द्रियतृप्ति विषयक; योषिताम्—स्त्रियों की; आसाम्—उनके; क्रीडनकः—क्रीड़ा की वस्तु; वश्यः—पूरी तरह वशीभूत; ऋष्य-शृङ्गः—ऋष्यशृंग मुनि; मृगी-सुतः—मृगी का पुत्र।

सुन्दर स्त्रियों के सांसारिक गायन, नृत्य तथा संगीत-मनोरंजन से आकृष्ट होकर मृगी-पुत्र ऋष्यशृंग मुनि तक उनके वश में आ गये, मानों कोई पालतू पशु हों।

तात्पर्य : मृगी ऋषि के तरुण पुत्र ऋष्यशृंग को उनके पिता ने जान-बूझकर नितान्त अबोधता के वातावरण में पाला-पोषा था। मृगी ऋषि ने सोचा था कि यदि उनका पुत्र स्त्रियों को कभी नहीं देखेगा, तो वह पूर्ण ब्रह्मचारी बना रहेगा। किन्तु संयोगवश निकटवर्ती राज्य के निवासी दीर्घकालीन दुर्भिक्ष से पीड़ित थे, अतएव उन्हें दैवी आदेश मिला कि उनके राज्य में तभी वर्षा होगी यदि ऋष्यशृंग नामक ब्राह्मण उस राज्य में पदार्पण करें। इसलिए उन्होंने ऋष्यशृंग को मोहने के लिए मृगी की कुटिया में सुन्दर स्त्रियाँ भेजीं, जो उन्हें अपने साथ वापस ले आयें। चूँकि ऋष्यशृंग ने कभी भी स्त्रियों के बारे में सुना तक न था, इसलिए वे उनके जाल में आसानी से फँस गये।

ऋष्यशृंग नाम सूचित करता है कि जन्म से ही इस ऋषि के सिर पर हिरन जैसे सींग उगे थे। यदि कोई ऋषि हिरन की तरह इन्द्रियतृप्ति को देने वाले मधुर संगीत द्वारा आकृष्ट हो जाता है, तो हिरन की तरह वह शीघ्रता से नष्ट भी हो जाता है। विचारवान व्यक्ति को उस हिरन से विनीत होकर शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जो संगीतमय इन्द्रियतृप्ति के प्रति आकर्षण के कारण विनष्ट हो जाता है।

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः ।

मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिमीनस्तु बडिशैर्यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

जिह्वया—जीभ से; अति-प्रमाथिन्या—जो अत्यधिक मथने वाली है; जनः—पुरुष; रस-विमोहितः—स्वाद के प्रति आकर्षण से मोहित हुआ; मृत्युम्—मृत्यु; ऋच्छति—प्राप्त करता है; असत्—व्यर्थ; बुद्धिः—जिसकी बुद्धि; मीनः—मछली; तु—निस्सन्देह; बडिशैः—काँटे द्वारा; यथा—जिस तरह।

जिस तरह जीभ का भोग करने की इच्छा से प्रेरित मछली मछुआरे के काँटे में फँस कर मारी जाती है, उसी तरह मूर्ख व्यक्ति जीभ की अत्यधिक उद्वेलित करने वाली उमंगों से मोहग्रस्त होकर विनष्ट हो जाता है।

तात्पर्य : मछुआरा पैनी कँटिया के सिरे पर मांस का टुकड़ा लगाकर दुर्बुद्धि मछली को आकृष्ट करता है, जो कि अपनी जीभ का भोग करने के लिए लालायित रहती है। इसी तरह लोग अपनी जीभ की तुष्टि के पीछे पागल हुए रहते हैं और खाने की आदतों में सारा विवेक खो देते हैं। क्षणिक तृप्ति के लिए वे बड़े-बड़े कसाईघर बनाते हैं और लाखों निरीह पशुओं का वध करते हैं। इस तरह दूसरों को घोर दुख प्रदान करके वे अपने भविष्य को वीभत्स बना देते हैं। किन्तु यदि वेदों द्वारा अधिकृत भोजन ही किया जाय, तो भी खतरा रहता है। अधिक खाने से कृत्रिम रूप से भरा गया पेट कामेन्द्रियों पर बल डालता है। इससे मनुष्य निम्न गुणों में जा गिरता है और पापकर्म करने लगता है, जिससे आध्यात्मिक जीवन नष्ट हो जाता है। मछली से मनुष्य को सावधानी से यह सीखना चाहिए कि असली खतरा जीभ की तुष्टि करने में है।

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः ।

वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; जयन्ति—जीत लेती हैं; आशु—शीघ्रतापूर्वक; निराहाराः—जो लोग इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकते हैं; मनीषिणः—विद्वान्; वर्जयित्वा—के अतिरिक्त; तु—लेकिन; रसनम्—जीभ; तत्—उसकी इच्छा; निरन्नस्य—उपवास करने वाले की; वर्धते—बढ़ती है।

उपवास द्वारा विद्वान् पुरुष जीभ के अतिरिक्त अन्य सारी इन्द्रियों को जल्दी से अपने वश में कर लेते हैं, क्योंकि ऐसे लोग अपने को खाने से दूर रखकर स्वादेन्द्रिय को तृप्त करने की प्रबल इच्छा से पीड़ित हो उठते हैं।

तात्पर्य : दक्षिणी अमेरिका की कहावत है कि जब पेट भरा रहता है, तो हृदय संतुष्ट रहता है। इस प्रकार जो व्यक्ति अच्छा भोजन करता है, वह प्रसन्नचित्त रहता है और यदि किसी को भोजन न दिया जाय, तो उसकी भूख और भी बढ़ जाती है। किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति जीभ के वशीभूत नहीं होता, प्रत्युत वह कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने का प्रयास करता है। भगवान् को अर्पित भोजन के जूठन (प्रसादम्) को खाने से धीरे धीरे हृदय शुद्ध हो जाता है और मनुष्य सरल तथा संयमी बन जाता है।

इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि जीभ का कार्य है विविध प्रकार के रस से अपने को तृप्त करना, किन्तु व्रजमण्डल (वृन्दावन) के बारह पवित्र वनों का भ्रमण करने से मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति के बारह रसों से मुक्त हो जाता है। भौतिक सम्बन्ध के पाँच मुख्य विभाग हैं तटस्थ प्रशंसा, दास्य, मैत्री, वात्सल्य तथा माधुर्य। सात गौण भौतिक सम्बन्ध हैं भौतिक हास्य, आश्चर्य, पराक्रम, दया, क्रोध, भय तथा वीभत्सता। मूलतः इन बारह रसों या सम्बन्धों के स्वादों का आध्यात्मिक जगत में भगवान् तथा जीव के मध्य आदान-प्रदान होता है। वृन्दावन के बारह वनों में भ्रमण करके मनुष्य अपने जीवन में इन बारह रसों को पुनः आध्यात्मिक बना सकता है। इस तरह वह मुक्तात्मा बन जाता है। यदि कोई बनावटी रीति से इन्द्रियतृप्ति को, विशेष रूप से जीभ-तृप्ति को त्यागना चाहता है, तो उसका प्रयास विफल होगा और इससे बनावटी रोकथाम के कारण, उसकी इन्द्रियतृप्ति की इच्छा बढ़ेगी। केवल कृष्ण के साथ असली आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करके ही ऐसी भौतिक इच्छाएँ त्यागी जा सकती हैं।

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान् ।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; जित-इन्द्रियः—जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय पा ली है; न—नहीं; स्यात्—हो सकता है; विजित-अन्य-इन्द्रियः—जिसने अन्य इन्द्रियों पर विजय पा ली है; पुमान्—मनुष्य; न जयेत्—नहीं जीत सकता; रसनम्—जीभ को; यावत्—जब तक; जितम्—जीता हुआ; सर्वम्—हर वस्तु; जिते—जीत लेने पर; रसे—जीभ को।

भले ही कोई मनुष्य अन्य सारी इन्द्रियों को क्यों न जीत ले, किन्तु जब तक जीभ को नहीं जीत लिया जाता, तब तक वह इन्द्रियजित नहीं कहलाता। किन्तु यदि कोई मनुष्य जीभ को वश में करने में सक्षम होता है, तो उसे सभी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण करने वाला माना जाता है।

तात्पर्य : भोजन करने से मनुष्य सारी इन्द्रियों को शक्ति तथा क्रियाशीलता प्रदान करता है और यदि जीभ वश में नहीं रहती, तो सारी इन्द्रियाँ भौतिक पद को प्राप्त हो जाएगी। इसलिए सभी प्रकार से जीभ को वश में करना चाहिए। यदि मनुष्य उपवास करता है, तो अन्य सारी इन्द्रियाँ दुर्बल पड़ जाती हैं और अपनी शक्ति खो देती हैं। किन्तु जीभ स्वादिष्ट व्यंजनों का स्वाद लेने के लिए और भी ललचाती है और जब मनुष्य अन्त में जीभ को मनमानी करने देता है, तो सारी इन्द्रियाँ शीघ्र ही वश से बाहर हो जाती हैं। इसलिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर सलाह देते हैं कि मध्यम मात्रा में महाप्रसाद ग्रहण किया जाय। चूँकि जीभ का काम उच्चारण करना भी है, अतएव मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के यशस्वी नामों का उच्चारण करे और शुद्ध कृष्णभावनामृत के आनन्द का आस्वाद ले। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है *रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते*—मनुष्य कृष्णभावनामृत के उच्चतर आस्वादन से ही उस घातक निम्न स्वाद का परित्याग कर सकता है, जो मनुष्य को भवबन्धन में बन्दी बनाए रखता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि जब तक मनुष्य की बुद्धि भौतिक रूप से प्रच्छन्न रहती है, तब तक वे कृष्णभावनामृत के स्वाद को नहीं समझ सकता। कृष्ण के बिना ही भोग करने के प्रयास में जीव भगवद्धाम ब्रजभूमि को त्याग कर भौतिक जगत में उतर आता है, जहाँ वह अपनी इन्द्रियों का नियंत्रण खो बैठता है। वह जीभ, पेट तथा जननेन्द्रिय का शिकार बन जाता है, जो बद्धजीव पर असह्य दबाव डालते हैं। किन्तु जब मनुष्य आनन्दकन्द भगवान् के साथ पुनः आनन्दमय सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तो ये इच्छाएँ ठण्डी पड़ जाती हैं। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत के आस्वाद के प्रति अनुरक्त होता है, वह विशुद्ध सत्त्व के प्रति रागानुग आकर्षण के कारण धार्मिक जीवन के विधि-विधानों का स्वतः पालन करने लगता है। ऐसे रागानुग आकर्षण के बिना मनुष्य इन्द्रियों की ठेलपेल से मोहग्रस्त हो जाता है।

भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था, जिसे *साधन भक्ति* कहते हैं, इतनी प्रबल होती है कि वह मनुष्य को *अनर्थ निवृत्ति* पद पर ला देती है, जहाँ व्यक्ति अवांछित पापमय आदतों से मुक्त हो जाता है और जीभ, उदर तथा जननेन्द्रिय के दबाव से छूट जाता है। इस तरह वह भौतिक लत के बन्धन से उबर आता है और माया के सम्मोहनों से और अधिक प्रवंचित नहीं होता। जैसा कहा जाता है, हर चमकने वाली वस्तु सोना नहीं होती है, इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की यह संस्तुति है कि हम उनके पिता श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा लिखित निम्नलिखित गीत पर विचार करें—

शरीर अविद्याजाल, जड़ेंद्रिय ताहे काल

जीवे फेले विषय-सागरे ।

ता 'र मध्ये जिह्वा अति-, लोभमय सुदुर्मति

ता 'के जेता कठिन संसारे ॥

कृष्ण बड़ दयामय, करिबारे जिह्वा जय

स्व-प्रसादान्न दिल भाइ ।

सेइ अन्नामृत पाओ, राधा-कृष्ण-गुण गाओ

प्रेमे डाको चैतन्य-निताइ ॥

“हे प्रभु! यह भौतिक शरीर अज्ञान का पुंज है और इन्द्रियाँ मृत्यु के पास जाने वाले मार्गों का जाल है। हम न जाने कैसे भौतिक इन्द्रिय-भोग के इस सागर में गिर गये हैं और समस्त इन्द्रियों में से जीभ अत्यन्त लोभी तथा वश में न रहने वाली है। इस संसार में जीभ पर विजय पाना बहुत कठिन है। किन्तु प्यारे कृष्ण! आप हम पर अत्यन्त कृपालु हैं और जीभ पर नियंत्रण रखने के लिए आपने हमें ऐसा उत्तम प्रसाद दिया है। अब हम इस प्रसादम् को जी-भरकर खाते हैं और श्री श्री राधाकृष्ण का गुणगान करते हैं और प्रेम में हम श्री चैतन्य तथा नित्यानन्द प्रभु की सहायता के लिए पुकार लगाते हैं।”

पिङ्गला नाम वेश्यासीद्विदेहनगरे पुरा ।

तस्या मे शिक्षितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

पिङ्गला नाम—पिंगला नाम की; वेश्या—वेश्या; आसीत्—थी; विदेह-नगरे—विदेह नामक नगर में; पुरा—प्राचीन काल में; तस्याः—उससे; मे—मेरे द्वारा; शिक्षितं—जो कुछ सीखा गया; किञ्चित्—जो कुछ; निबोध—अब सीखो; नृप-नन्दन—हे राजा के पुत्र।

हे राजपुत्र, पूर्वकाल में विदेह नामक शहर में पिंगला नामकी एक वेश्या रहती थी। अब कृपा करके, वह सुनिये, जो मैंने उस स्त्री से सीखा है।

सा स्वैरिण्येकदा कान्तं सङ्केत उपनेष्यती ।

अभूत्काले बहिद्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; स्वैरिणी—वेश्या; एकदा—एक बार; कान्तम्—ग्राहक, प्रेमी; सङ्केते—रमण स्थान में; उपनेष्यती—लाने के लिए; अभूत्—खड़ी रही; काले—रात में; बहिः—बाहर; द्वारे—दरवाजे पर; बिभ्रती—पकड़े हुए; रूपम्—अपना रूप; उत्तमम्—अत्यन्त सुन्दर।

एक बार वह वेश्या अपने घर में किसी प्रेमी को लाने की इच्छा से रात के समय अपना सुन्दर रूप दिखलाते हुए दरवाजे के बाहर खड़ी रही।

मार्गं आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान्पुरुषर्षभ ।

तान्शुल्कदान्वित्तवतः कान्तान्मेनेऽर्थकामुकी ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

मार्गं—उस गली में; आगच्छतः—आने वाले; वीक्ष्य—देखकर; पुरुषान्—पुरुषों को; पुरुष-ऋषभ—हे श्रेष्ठ पुरुष; तान्—उनको; शुल्क-दान्—जो मूल्य चुका सके; वित्त-वतः—धनवान्; कान्तान्—प्रेमियों या ग्राहकों को; मेने—विचार किया; अर्थ-कामुकी—धन चाहने वाले।

हे पुरुष-श्रेष्ठ, यह वेश्या धन पाने के लिए अत्यधिक आतुर थी और जब वह रात में गली में खड़ी थी, तो वह उधर से गुजरने वाले सारे व्यक्तियों का अध्ययन यह सोचकर करती रही कि, “ओह, इसके पास अवश्य ही धन होगा। मैं जानती हूँ यह मूल्य चुका सकता है और मुझे विश्वास है कि वह मेरे साथ अत्यधिक भोग कर सकेगा।” वह वेश्या गली पर के सभी पुरुषों के बारे में ऐसा ही सोचती रही।

आगतेष्वपयातेषु सा सङ्केतोपजीविनी ।

अप्यन्यो वित्तवान्कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः ॥ २५ ॥

एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती ।

निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं समपद्यत ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

आगतेषु—जब वे आये; अपयातेषु—तथा वे चले गये; सा—उसने; सङ्केत-उपजीविनी—वेश्यावृत्ति ही जिसकी आमदनी थी; अपि—हो सकता है; अन्यः—दूसरा; वित्त-वान्—धनवान्; कः अपि—कोई भी; माम्—मेरे पास; उष्यति—प्रेम के लिए आयेगा; भूरि-दः—तथा वह प्रचुर धन देगा; एवम्—इस प्रकार; दुराशया—व्यर्थ की आशा से; ध्वस्त—नष्ट; निद्रा—उसकी नींद; द्वारि—दरवाजे पर; अवलम्बती—टेक लगाये; निर्गच्छन्ती—गली की ओर जाती हुई; प्रविशती—अपने घर वापस आती; निशीथम्—अर्धरात्रि; समपद्यत—हो गई।

जब वेश्या पिंगला द्वार पर खड़ी हो गई, कई पुरुष आये और उसके घर के सामने से टहलते हुए चले गये। उसकी जीविका का एकमात्र साधन वेश्यावृत्ति था, अतएव उसने उत्सुकतापूर्वक सोचा “हो सकता है कि अब जो आ रहा है, वह बहुत धनी हो...हाय! वह तो रुक ही नहीं रहा, किन्तु मुझे विश्वास है कि अन्य कोई अवश्य आयेगा। अवश्य ही यह जो आ रहा है मेरे प्रेम का मूल्य चुकायेगा और शायद प्रचुर धन दे।” इस प्रकार व्यर्थ की आशा लिए वह द्वार पर टेक लगाये खड़ी रही और अपना धंधा पूरा न कर सकी और सोने भी न जा सकी। उद्विग्नता से वह कभी गली में जाती और कभी अपने घर के भीतर लौट आती। इस तरह धीरे धीरे अर्धरात्रि हो आई।

तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः ।

निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—उसकी; वित्त—धन के लिए; आशया—इच्छा से; शुष्यत्—सूख गया; वक्त्रायाः—मुख; दीन—खिन्न; चेतसः—मन; निर्वेदः—विरक्ति; परमः—अत्यधिक; जज्ञे—जागृत हो उठी; चिन्ता—चिन्ता; हेतुः—के कारण; सुख—सुख; आवहः—लाते हुए।

ज्यों ज्यों रात बीतती गई, वह वेश्या, जो कि धन की अत्यधिक इच्छुक थी, धीरे-धीरे हताश हो उठी और उसका मुख सूख गया। इस तरह धन की चिन्ता से युक्त तथा अत्यन्त निराश होकर वह अपनी स्थिति से अत्यधिक विरक्ति अनुभव करने लगी और उसके मन में सुख का उदय हुआ।

तात्पर्य : इन श्लोकों से प्रतीत होना है कि उस रात वेश्या पिंगला अपने घर पर ग्राहकों को आकृष्ट करने में समर्थ हुई ही नहीं। पूर्णतया निराश होने से वह धीरे-धीरे अपनी स्थिति से अन्यमनस्क हो उठी। इस तरह कभी-कभी महान् कष्ट से मनुष्य को प्रकाश के मार्ग की ओर ले जाता है अथवा संस्कृत लोकोक्ति के अनुसार, निराशा में ही परम सन्तोष मिलता है।

यह वेश्या अनेक पुरुषों की कामवासनाएँ पूरी करने के लिए समर्पित नहीं थी। वह तन, मन तथा वाणी से अपने ग्राहकों में लगी रहने के कारण भगवान् की भक्ति पूरी तरह भूल गई, जिससे उसका मन अत्यन्त अस्थिर तथा विक्षुब्ध था। अन्त में, पूर्णतया निराश होने पर उसका मुख तथा गला सूखने लगा, वह अपनी स्थिति से अन्यमनस्क हो उठी तथा उसके मन में सुख का उदय हुआ।

तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम ।

निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तस्या:—उसका; निर्विण्ण—क्षुब्ध; चित्ताया:—मन; गीतम्—गीत; शृणु—सुनो; यथा—मानो; मम—मुझसे; निर्वेद:—विरक्ति; आशा—आशाओं एवं इच्छाओं के; पाशानाम्—बन्धनों के; पुरुषस्य—पुरुष को; यथा—जिस तरह; हि—निश्चय ही; असिः—तलवार।

वह वेश्या अपनी भौतिक स्थिति से ऊब उठी और इस तरह वह अन्यमनस्क हो गई। दरअसल, विरक्ति तलवार का काम करती है। यह भौतिक आशाओं तथा इच्छाओं के बन्धन को खण्ड-खण्ड कर देती है। अब मुझसे वह गीत सुनो, जो उस स्थिति में वेश्या ने गाया।

तात्पर्य : भौतिक इच्छाओं का ताना-बाना तब उत्पन्न होता है, जब कोई व्यक्ति झूठे यह सोचता है कि वह इस जगत में स्थायी रूप से रह सकता है। इस बन्धन को विरक्ति रूपी तलवार से काट डालना चाहिए, अन्यथा मनुष्य माया के मोहक बन्धन में रहने के लिए बाध्य होगा और उसे दिव्य पद पर मुक्त जीवन की कोई जानकारी नहीं होगी।

न ह्यज्ञाजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति ।

यथा विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अङ्ग—हे राजा; अजात—जिसने उत्पन्न नहीं किया; निर्वेद:—विरक्ति; देह—भौतिक शरीर का; बन्धम्—बन्धन; जिहासति—त्यागने का इच्छुक होता है; यथा—जिस तरह; विज्ञान—अनुभूत ज्ञान; रहित:—विहीन; मनुज:—मनुष्य; ममताम्—स्वामित्व का मिथ्या भाव; नृप—हे राजा।

हे राजन्, जिस तरह आध्यात्मिक ज्ञान से विहीन व्यक्ति कभी भी अनेक भौतिक वस्तुओं पर अपने मिथ्या स्वामित्व को त्यागना नहीं चाहता, उसी तरह जिस व्यक्ति में विरक्ति उत्पन्न नहीं हुई वह कभी भी भौतिक शरीर के बन्धन को त्यागने के लिए तैयार नहीं होता।

पिङ्गलोवाच

अहो मे मोहविततिं पश्यताविजितात्मनः ।

या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

पिङ्गला—पिंगला ने; उवाच—कहा; अहो—ओह; मे—मेरा; मोह—मोह का; विततिम्—विस्तार; पश्यत—देखो तो; अविजित-आत्मनः—जिसका मन वश में नहीं है, उसका; या—जो (मैं); कान्तात्—अपने प्रेमी से; असतः—व्यर्थ, तुच्छ; कामम्—विषय-सुख; कामये—चाहती हूँ; येन—क्योंकि; बालिशा—मूर्ख हूँ।

पिंगला वेश्या ने कहा : जरा देखो न, मैं कितनी मोहग्रस्त हूँ। चूँकि मैं अपने मन को वश में नहीं रख सकती, इसलिए मैं मूर्ख की तरह किसी तुच्छ व्यक्ति से विषय-सुख की कामना करती हूँ।

तात्पर्य : भौतिक जगत में सारी इन्द्रियाँ विभिन्न वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होती हैं, जिससे बद्धजीव निपट मूर्ख बन जाता है। भौतिक जीवन का कारण परम सत्य के प्रति अन्यमनस्कता है। बद्धजीव अपने को ही भौतिक जगत का स्वामी और भोक्ता मान बैठता है और इन्द्रियतृप्ति को जीवन का उद्देश्य समझता है। वह जितना ही अधिक भौतिक जगत का भोग करना चाहता है, उसका मोह उतना ही बढ़ता जाता है।

इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि पिंगला न केवल वेश्यावृत्ति से जीविकोपार्जन कर रही थी, अपितु असंख्य लोगों से अवैध सम्बन्ध बनाये हुए थी। कान्ताद् असतः शब्द सूचित करते हैं कि वह अत्यन्त सामान्य तथा व्यर्थ व्यक्तियों को अपना “प्रेमी” मानकर बिना भेदभाव के अपने को बेच रही थी। इसीलिए वह कहती है, “मैं महान् मूर्ख थी।” बालिशा शब्द का अर्थ है बाल-स्वभाव वाला जिसे अच्छे-बुरे का व्यावहारिक ज्ञान नहीं होता।

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं

वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय ।

अकामदं दुःखभयाधिशोक-

मोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सन्तम्—होते हुए; समीपे—अत्यन्त निकट (मेरे हृदय में); रमणम्—अत्यन्त प्रिय; रति—वास्तविक प्रेम या आनन्द; प्रदम्—देने वाला; वित्त—धन; प्रदम्—देने वाला; नित्यम्—नित्य; इमम्—उसको; विहाय—त्याग कर; अकाम-दम्—जो किसी की इच्छाओं को कभी नहीं पूरा कर सकता; दुःख—कष्ट; भय—डर; आधि—मानसिक क्लेश; शोक—शोक; मोह—मोह; प्रदम्—देने वाला; तुच्छम्—अत्यन्त तुच्छ; अहम्—मैं; भजे—सेवा करती हूँ; अज्ञा—अज्ञानी मूर्ख।

मैं ऐसी मूर्ख निकली कि मेरे हृदय में जो शाश्वत स्थित है और मुझे अत्यन्त प्रिय है उस पुरुष की मैंने सेवा छोड़ दी। वह अत्यन्त प्रिय ब्रह्माण्ड का स्वामी है, जो कि असली प्रेम तथा सुख का दाता है और समस्त समृद्धि का स्रोत है। यद्यपि वह मेरे ही हृदय में है, किन्तु मैंने उसकी पूर्णरूपेण अनदेखी की है। बजाय इसके मैंने अनजाने ही तुच्छ आदमियों की सेवा की है, जो मेरी असली इच्छाओं को कभी भी पूरा नहीं कर सकते और जिन्होंने मुझे दुख, भय, चिन्ता, शोक तथा मोह ही दिया है।

तात्पर्य : पिंगला शोक कर रही है कि उसने अत्यन्त पापी तथा व्यर्थ के लोगों की सेवा की है। उसने व्यर्थ ही ऐसा सोचा कि वे उसे सुख देंगे और इस तरह उसने अपने हृदय के असली स्वामी, कृष्ण, की सेवा करने में उपेक्षा की। उसे यह समझ में आ गया कि उसने मूर्खतावश धन के लिए इतना संघर्ष किया, क्योंकि उसे ज्ञात न था कि भगवान् अपने निष्ठावान भक्त को समृद्धि प्रदान करने के इच्छुक रहते हैं। इस गणिका (वेश्या) को गर्व था कि उसमें मनुष्यों को रिझाने की क्षमता है, किन्तु अब वह पछता रही है कि उसने प्रेमाभक्ति द्वारा भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास क्यों नहीं किया। भगवान् भौतिक जगत के समस्त लेन-देनों से सर्वथा पृथक् रहने वाले हैं। भगवान् कृष्ण ही हर वस्तु के भोक्ता हैं, किन्तु मनुष्य को यह सीखना होगा कि शुद्ध प्रेमभाव से उन्हें किस तरह प्रसन्न किया जा सकता है।

अहो मयात्मा परितापितो वृथा
साङ्केत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्तया ।
स्त्रैणान्नराद्यार्थतृषोऽनुशोच्यात्
क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; मया—मेरे द्वारा; आत्मा—आत्मा; परितापितः—कष्ट दिया गया; वृथा—व्यर्थ ही; साङ्केत्य—वेश्या की; वृत्त्या—वृत्ति या पेशे द्वारा; अति-विगर्ह्य—अत्यन्त निन्दनीय; वार्तया—वृत्ति द्वारा; स्त्रैणात्—कामुक व्यक्तियों द्वारा; नरात्—मनुष्यों से; या—जो (मैं); अर्थ-तृषः—लोभी; अनुशोच्यात्—दयनीय; क्रीतेन—बिके हुए; वित्तम्—धन; रतिम्—मैथुन सुख; आत्मना—अपने शरीर से; इच्छती—चाहती हुई।

ओह! मैंने अपनी आत्मा को व्यर्थ ही पीड़ा पहुँचाई। मैंने ऐसे कामुक, लोभी पुरुषों के हाथ अपने शरीर को बेचा जो स्वयं दया के पात्र हैं। इस प्रकार मैंने वेश्या के अत्यन्त गर्हित पेशे को अपनाते हुए धन तथा मैथुन का आनन्द पाने की आशा की थी।

तात्पर्य : वेश्यावृत्ति की कला पुरुषों में भोग की लालसा जागृत करने पर आधारित है। स्पष्ट है कि यह वेश्या इतनी मूर्ख थी कि अपने पेशे के बारे में रूमानी धारणा बनाये थी और अपने ग्राहकों के साथ प्रेम-व्यापार द्वारा भोग करना चाहती थी। उसे इसकी अनुभूति नहीं थी कि वे अधम हैं और उनके मन्तव्य गर्हित हैं। पिंगला वेश्या की ही तरह मनुष्य को समझना चाहिए कि भगवान् की भक्ति त्यागने से वह माया का शिकार बनता है और अत्यधिक कष्ट भोगता है।

यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंस्य-

स्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम् ।

क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्

विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; अस्थिभिः—हड्डियों से; निर्मित—बना हुआ; वंश—रीढ़; वंस्य—पसलियाँ; स्थूणम्—हाथ-पैर की हड्डियाँ; त्वचा—चमड़ी से; रोम-नखे:—बाल तथा नाखूनों से; पिनद्धम्—ढका; क्षरत्—टपकता हुआ; नव—नौ; द्वारम्—द्वारों; अगारम्—घर; एतत्—यह; विद्—मल; मूत्र—मूत्र, पेशाब से; पूर्णम्—भरा हुआ; मत्—मेरे अतिरिक्त; उपैति—अपने को लगाती है; का—कौन; कान्या—अन्य स्त्री।

यह भौतिक शरीर एक घर के सदृश है, जिसमें आत्मा रूप में मैं रह रही हूँ। मेरी रीढ़, पसलियों, हाथ तथा पाँव को बनाने वाली हड्डियाँ इस घर की आड़ी तथा पड़ी शहतीरें, थूनियाँ तथा ख भें हैं और पूरा ढाँचा मल-मूत्र से भरा हुआ है तथा चमड़ी, बाल तथा नाखूनों से आच्छादित है। इस शरीर के भीतर जाने वाले नौ द्वार निरन्तर गन्दी वस्तुएँ निकालते रहते हैं। भला मेरे अतिरिक्त कौन स्त्री इतनी मूर्ख होगी कि वह इस भौतिक शरीर के प्रति यह सोचकर अनुरक्त होगी कि उसे इस युक्ति से आनन्द तथा प्रेम मिल सकेगा ?

तात्पर्य : शरीर के नौ द्वार, जो भीतर-बाहर खुलते हैं, दो आँखें, दो नथुने, मुँह, दो कान, जननेन्द्रिय तथा मलद्वार हैं। वंश का अर्थ रीढ़ के अलावा “बाँस” भी है। हड्डी का ढाँचा बाँस के बने ढाँचे से समानता रखता है। जिस प्रकार बाँस जलकर तुरन्त राख हो जाता है अथवा उसके खंड-खंड किये जा सकते हैं, उसी तरह निरन्तर क्षय होने वाले भौतिक शरीर को किसी भी क्षण पीस कर चूर्ण किया जा सकता है, टुकड़े-टुकड़े किया जा सकता है, डुबोया, जलाया या उसका दम घोटा जा सकता है। अन्ततोगत्वा शरीर को छिन्न-भिन्न होना है, अतएव जो व्यक्ति अप्रिय तत्त्वों से भरे इस तुच्छ शरीर के प्रति अनुरक्ति दिखलाता है, उसके समान अभागा कोई नहीं है।

विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः ।

यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात्काममच्युतात् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

विदेहानाम्—विदेह के निवासियों के; पुरे—नगर में; हि—निश्चय ही; अस्मिन्—इस; अहम्—मैं; एका—अकेली; एव—निस्सन्देह; मूढ—मूर्ख; धीः—बुद्धि वाली; या—जो (मैं ही); अन्यम्—दूसरी; इच्छन्ती—चाहती हुई; असती—नितान्त व्यभिचारिणी होकर; अस्मात्—उन; आत्म-दात्—हमें असली आध्यात्मिक रूप प्रदान करने वाला; कामम्—इन्द्रियतृप्ति; अच्युतात्—भगवान् अच्युत के अतिरिक्त।

निश्चित रूप से इस विदेह नगरी में मैं ही अकेली निपट मूर्ख हूँ। मैंने उन भगवान् की उपेक्षा की है, जो हमें सब कुछ देते हैं, यहाँ तक कि हमारा मूल आध्यात्मिक स्वरूप भी देते हैं। मैंने उन्हें छोड़ कर अनेक पुरुषों से इन्द्रियतृप्ति का भोग करना चाहा है।

सुहृत्प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम् ।

तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सु-हृत्—शुभेच्छु मित्र; प्रेष्ठ-तमः—नितान्त प्रिय; नाथः—प्रभु; आत्मा—आत्मा; च—भी; अयम्—वह; शरीरिणाम्—समस्त शरीरधारियों के; तम्—उसको; विक्रीय—मोल लेकर; आत्मना—अपने आपको शरणागत करके; एव—निश्चय ही; अहम्—मैं; रमे—रमण करूँगी; अनेन—भगवान् के साथ; यथा—जिस तरह; रमा—लक्ष्मीदेवी।

भगवान् समस्त जीवों के लिए नितान्त प्रिय हैं, क्योंकि वे हर एक के शुभेच्छु तथा स्वामी हैं। वे हर एक के हृदय में स्थित परमात्मा हैं। अतएव मैं पूर्ण शरणागति का मूल्य चुकाकर तथा भगवान् को मोल लेकर उनके साथ उसी तरह रमण करूँगी, जिस तरह लक्ष्मीदेवी करती हैं।

तात्पर्य : समस्त बद्धजीवों के असली मित्र भगवान् हैं और वे ही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्रदान कर सकते हैं। भगवान् के चरणकमलों में सदैव रहने वाली लक्ष्मीदेवी के आदर्श का अनुगमन करते हुए मनुष्य शाश्वत सुख पा सकता है। मनुष्य को चाहिए कि शरीर रूपी बुरे सौदे का अधिक से अधिक लाभ उठाये और मनसावाचाकर्मणा भगवान् को अपना शरीर अर्पित कर दे। इतना मूल्य चुकाने पर वह भगवान् को मोल ले सकता है, जो हर एक के अत्यन्त प्रिय सुहृद हैं। इस तरह इन्द्रियतृप्ति विषयक मनुष्य की पुरानी लालसा स्वयमेव नियंत्रित हो सकेगी।

क्रियत्प्रियं ते व्यभजन्कामा ये कामदा नराः ।

आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कियत्—कितना; प्रियम्—वास्तविक सुख; ते—वे; व्यभजन्—प्रदान किया है; कामाः—इन्द्रियतृप्ति; ये—तथा जो; काम-
दाः—इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने वाले; नराः—पुरुष; आदि—प्रारम्भ; अन्त—तथा अन्त; वन्तः—से युक्त; भार्यायाः—पत्नी के;
देवाः—देवतागण; वा—अथवा; काल—काल द्वारा; विदुताः—विलग किये गये, अतएव क्षुब्ध।

पुरुष स्त्रियों को इन्द्रियतृप्ति प्रदान करते हैं, किन्तु इन सारे पुरुषों का तथा स्वर्ग में देवताओं का भी आदि और अन्त है। वे सभी क्षणिक सृष्टियाँ हैं, जिन्हें काल घसीट ले जायेगा। अतएव इनमें से कोई भी अपनी पत्नियों को कितना वास्तविक आनन्द या सुख प्रदान कर सकता है?

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में हर व्यक्ति मूलतः अपनी इन्द्रियतृप्ति के पीछे लगा रहता है और इस तरह हर व्यक्ति काल के प्रभाव से विनष्ट होता है। भौतिक स्तर पर कोई किसी दूसरे की सहायता नहीं करता। जैसाकि पिंगला को अब पता चल रहा है, तथाकथित भौतिक प्रेम मात्र धोखाधड़ी है।

नूनं मे भगवान्प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा ।

निर्वेदोऽयं दुराशया यन्मे जातः सुखावहः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्सन्देह; मे—मुझसे; भगवान्—भगवान्; प्रीतः—प्रसन्न है; विष्णुः—भगवान्; केन अपि—किसी; कर्मणा—कर्म के द्वारा; निर्वेदः—इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति; अयम्—यह; दुराशयाः—भौतिक भोगकी बुरी तरह से आशा करने वाले में; यत्—क्योंकि; मे—मुझमें; जातः—उत्पन्न हुआ है; सुख—सुख; आवहः—लाते हुए।

यद्यपि मैंने भौतिक जगत को भोगने की दुराशा की थी, किन्तु न जाने क्यों मेरे हृदय में विरक्ति उत्पन्न हो चुकी है और यह मुझे अत्यन्त सुखी बना रही है। इसलिए भगवान् विष्णु अवश्य ही मुझ पर प्रसन्न होंगे। मैंने इसे जाने बिना ही उनको तुष्ट करने वाला कोई कर्म अवश्य किया होगा।

मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः ।

येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

मा—नहीं; एवम्—इस प्रकार; स्युः—हों; मन्द-भाग्यायाः—अभागिनियों के; क्लेशाः—कष्ट; निर्वेद—विरक्ति के; हेतवः—कारण; येन—जिस विरक्ति से; अनुबन्धम्—बन्धन; निर्हृत्य—हटाकर; पुरुषः—पुरुष; शमम्—असली शान्ति; ऋच्छति—प्राप्त करता है।

जिस व्यक्ति में विरक्ति उत्पन्न हो चुकी है, वह भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम के बन्धन त्याग सकता है और जो पुरुष महान् कष्ट भोगता है, वह निराशा के कारण धीरे-धीरे विरक्त हो जाता है तथा भौतिक जगत के प्रति अन्यमनस्क हो उठता है। मेरे महान् कष्ट के कारण ही मेरे हृदय में

ऐसी विरक्ति जागी है; अन्यथा यदि मैं सचमुच अभागिन होती, तो मुझे ऐसी दयार्द्र पीड़ा क्यों झेलनी पड़ती? इसलिए मैं सचमुच भाग्यशालिनी हूँ और मुझे भगवान् की दया प्राप्त हुई है। वे अवश्य ही मुझ पर प्रसन्न हैं।

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गताः ।

त्यक्त्वा दुराशाः शरणं ब्रजामि तमधीश्वरम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तेन—उनके (भगवान् के) द्वारा; उपकृतम्—अधिक सहायता की; आदाय—स्वीकार करके; शिरसा—मेरे सिर पर, भक्ति से; ग्राम्य—सामान्य इन्द्रियतृप्ति; सङ्गताः—सम्बन्धित; त्यक्त्वा—त्याग कर; दुराशाः—पापपूर्ण इच्छाएँ; शरणम्—शरण में; ब्रजामि—अब आ रही हूँ; तम्—उसको; अधीश्वरम्—भगवान्।

भगवान् ने मुझ पर जो महान् उपकार किया है, उसे मैं भक्तिपूर्वक स्वीकार करती हूँ। मैंने सामान्य इन्द्रियतृप्ति के लिए पापपूर्ण इच्छाएँ त्यागकर अब भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है।

सन्तुष्टा श्रद्धधत्येतद्यथालाभेन जीवती ।

विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सन्तुष्टा—पूर्णतया तुष्ट; श्रद्धधती—पूर्ण श्रद्धा से युक्त; एतत्—भगवान् की कृपा में; यथा—लाभेन—जो कुछ अपने आप मिल जाय उसी से; जीवती—जीवित; विहरामि—विहार करूँगी; अमुना—उसी एक से; एव—एकमात्र; अहम्—मैं; आत्मना—भगवान् से; रमणेन—प्रेम तथा सुख के असली स्रोत हैं, जो; वै—इसमें कोई सन्देह नहीं।

अब मैं पूर्ण तुष्ट हूँ और मुझे भगवान् की दया पर पूर्ण श्रद्धा है। अतएव जो कुछ मुझे स्वतः मिल जायेगा, उसी से मैं अपना भरण-पोषण (निर्वाह) करूँगी। मैं एकमात्र भगवान् के साथ विहार करूँगी, क्योंकि वे प्रेम तथा सुख के असली स्रोत हैं।

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम् ।

ग्रस्तं कालाहिनात्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

संसार—भौतिक जगत; कूपे—अंधे कुएँ में; पतितम्—गिरा हुआ; विषयैः—इन्द्रियतृप्ति द्वारा; मुषित—चुराई गई; ईक्षणम्—दृष्टि; ग्रस्तम्—पकड़ा हुआ; काल—काल के; अहिना—सर्प द्वारा; आत्मानम्—जीवको; कः—कौन; अन्यः—दूसरा; त्रातुम्—उद्धार करने में समर्थ है; अधीश्वरः—भगवान्।

इन्द्रियतृप्ति के कार्यों द्वारा जीव की बुद्धि हर ली जाती है और तब वह भौतिक जगत के अंधे कुएँ में गिर जाता है। फिर इस कुएँ में उसे कालरूपी भयानक सर्प पकड़ लेता है। बेचारे जीव को ऐसी निराश अवस्था से भला भगवान् के अतिरिक्त और कौन बचा सकता है?

तात्पर्य : किसी पिछले श्लोक में पिंगला ने कहा था कि देवतागण भी स्त्री को वास्तविक सुख प्रदान कर पाने में अक्षम होते हैं। कोई यह पूछ सकता है कि इस स्त्री को किसने अधिकार दिया है कि वह ब्रह्मा, शिव तथा अन्य महापुरुषों को भी त्याग दे? इसका उत्तर यह दिया गया है कि यदि कोई व्यक्ति सचमुच जीवन की सारी समस्याओं को हल करना चाहता है और भगवद्धाम वापस जाना चाहता है, तो भगवान् के चरणकमलों में शरण लेना ही इसका एकमात्र समाधान है। यह भलीभाँति ज्ञात है कि देवता भी जन्म लेते और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। जैसाकि स्वयं शिवजी ने कहा है *मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः*—इसमें सन्देह नहीं है कि विष्णु ही हर एक के उद्धारक हैं।

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात् ।

अप्रमत्त इदं पश्येद्ग्रस्तं कालाहिना जगत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

आत्मा—आत्मा; एव—एकमात्र; हि—निश्चय ही; आत्मनः—अपना; गोप्ता—रक्षक; निर्विद्येत—विरक्त हो जाता है; यदा—जब; अखिलात्—सारी भौतिक वस्तुओं से; अप्रमत्तः—भौतिक ज्वर से रहित; इदम्—यह; पश्येत्—देख सकता है; ग्रस्तम्—पकड़ा हुआ; काल—काल के; अहिना—सर्प द्वारा; जगत्—ब्रह्माण्ड।

जब जीव देखता है कि समस्त ब्रह्माण्ड कालरूपी सर्प द्वारा पकड़ा जा चुका है, तो वह गम्भीर तथा विवेकवान् बन जाता है और तब वह अपने को समस्त भौतिक इन्द्रियतृप्ति से विरक्त कर लेता है। उस अवस्था में जीव अपना ही रक्षक बनने का पात्र हो जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में पिंगला कहती है कि भगवान् की कृपा से स्वरूपसिद्ध जीव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को कालरूपी विकराल सर्प के मुख में स्थित देख सकता है। निश्चय ही यह अच्छी स्थिति नहीं है और जो इसे देखता है, उसकी इन्द्रियतृप्ति-इच्छा जाती रहती है। इस तरह भगवत्कृपा से आध्यात्मिक रूप से विवेकशील जीव अपने को माया से बचा सकता है।

चूँकि अब पिंगला मोक्ष के लिए भगवान् की दया हेतु परमेश्वर का महिमागान कर रही है, अतएव यह प्रश्न उठ सकता है : क्या वह प्रेमवश भगवान् की पूजा कर रही है या वह केवल मोक्ष चाहने वाली है और इस संसार से मुक्ति की इच्छुक है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वह अपनी कृष्णभावनाभावित स्थिति में पहले से मुक्त हो चुकी है, भले ही वह इस जगत में क्यों न रह रही हो। अब वह बिना किसी निजी इच्छा के, जिसमें मोक्ष सम्मिलित है, भगवान् की प्रेमाभक्ति मात्र करेगी।

श्रीब्राह्मण उवाच

एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम् ।

छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—अवधूत ने कहा; एवम्—इस प्रकार; व्यवसित—कृतसंकल्प; मतिः—उसका मन; दुराशाम्—पापी इच्छा; कान्त—प्रेमी; तर्ष—लालायित रहना; जाम्—द्वारा उत्पन्न; छित्त्वा—काट कर; उपशमम्—शान्ति में; आस्थाय—स्थित होकर; शय्याम्—अपनी सेज पर; उपविवेश—बैठ गई; सा—वह।

अवधूत ने कहा : इस तरह अपने मन में संकल्प करके, पिंगला ने अपने प्रेमियों से संभोग करने की पापपूर्ण इच्छाओं को त्याग दिया और वह परम शान्ति को प्राप्त हुई। तत्पश्चात्, वह अपनी सेज पर बैठ गई।

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् ।

यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

आशा—भौतिक इच्छा; हि—निश्चय ही; परमम्—सबसे बड़ा; दुःखम्—दुख; नैराश्यम्—भौतिक इच्छाओं से मुक्ति; परमम्—सबसे बड़ा; सुखम्—सुख; यथा—जिस तरह; सञ्छिद्य—पूरी तरह काट कर; कान्त—प्रेमियों के लिए; आशाम्—इच्छा; सुखम्—सुखपूर्वक; सुष्वाप—सो गई; पिङ्गला—थे फोर्मेर् प्रोस्तितुते, पिङ्गला।

निस्सन्देह भौतिक इच्छा ही सर्वाधिक दुख का कारण है और ऐसी इच्छा से मुक्ति सर्वाधिक सुख का कारण है। अतएव तथाकथित प्रेमियों से विहार करने की अपनी इच्छा को पूरी तरह छिन्न करके पिंगला सुखपूर्वक सो गई।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत “पिंगला की कथा” नामक आठवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत शिष्यों द्वारा विरचित तात्पर्य पूर्ण हुए।